

शिक्षा में साझेदारी : शिक्षा के प्रतिमानों में गिरावट

रोहित धनकर

लेखक परिचय :

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा : 2005 की संचालन समिति सदस्य, स्वयंसेवी संगठन दिगन्तर के संस्थापक एवं सचिव

पुस्तक :

शिक्षा और समझ, शिक्षा के संदर्भ और विकल्प (संपादित), आधार प्रकाशन, पंचकुला, हरियाणा।

सम्पर्क :

दिगन्तर, टोडी रमजानीपुरा, खोनागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302025

आजादी के बाद के साठ वर्षों में शिक्षा के उपक्रम में हम बहुत अच्छे तरीके से काम नहीं कर पाए हैं। शिक्षा के दोनों आयामों पर हम लोग एक राष्ट्र के रूप में विफल रहे हैं। एक आयाम, प्रत्येक बच्चे तक शिक्षा पहुंच का है और दूसरा, जो कि इसी का हिस्सा लेकिन आजकल लोग इसे अलग करके देखने लगे हैं, शिक्षा की गुणवत्ता के विकास का है अर्थात् प्रत्येक बच्चे को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्त हो। पिछले साठ वर्षों में हम न तो शिक्षा की गुणवत्ता को बनाए रख पाए हैं और न ही आखिरी बालक तक शिक्षा को पहुंचा पाए हैं। सभी तक शिक्षा पहुंचाने और शिक्षा को बेहतर बनाने के लिए समय-समय पर विभिन्न सरकारी उपक्रम चलाए जाते रहे हैं। लेकिन इन सभी योजनाओं और उपक्रमों से कुछ विशेष सुधार हुआ हो, वह स्पष्ट रूप से नजर नहीं आता। यह सही है कि शिक्षकों की संख्या, विद्यालयों की संख्या और नामांकन में बहुत बढ़ोतरी हुई है लेकिन यह कितना योजनाबद्ध प्रयासों का नतीजा है और कितना समाज में होने वाले स्वाभाविक परिवर्तनों का, यह शोध का विषय हो सकता है। इन दोनों आयामों को लेकर इन दिनों एक नई बहस चल रही है, जिसको पिछले साठ वर्षों की शैक्षिक विफलता से बहुत बल मिल रहा है, कि निजी क्षेत्र की पूंजी और प्रबंधन की विशेषज्ञता को शिक्षा की बेहतरी में योगदान के लिए आमंत्रित किया जाए। इस नजरिए से शिक्षा को सुधारने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रयत्न किए जा रहे हैं और यह बहस इन दिनों बहुत व्यापक स्तर पर पूरे देश में चल रही है। पिछले लगभग दो वर्षों में इस बहस के इतने आयाम बन चुके हैं कि उसके हर आयाम पर विस्तार से बात करना किसी एक लेख में संभव नहीं है। मैं इस उभरती नई व्यवस्था के बहु-प्रचारित कुछ आयामों पर इस लेख में बात करूंगा।

इस बहस पर विचार करने से पहले यदि हम पुरानी शिक्षा व्यवस्था को देखें तो उसे जिम्मेदारी या प्रबंधन की दृष्टि से दो हिस्सों में बांटकर देखा जा सकता है। इसमें से एक सरकारी व्यवस्था है जिसमें शिक्षा की व्यवस्था करना, सारे कार्मिकों को रखना, स्कूल चलाना इत्यादि सम्पूर्ण काम एक विभाग के तहत किए जाते रहे हैं। आज भी हमारी शिक्षा का सार्वजनिक तंत्र सबसे महत्वपूर्ण और सबसे बड़ा तंत्र है। इसका दूसरा पूरक हिस्सा पुरानी निजी शिक्षा व्यवस्था है। इस तरह देखा जाए तो शिक्षा में निजी भागीदारी हमेशा ही रही है। जहां तक भारतीय शिक्षा व्यवस्था का सवाल है तो यहां आधुनिक शिक्षा के आने से पहले सारी शिक्षा व्यवस्था निजी स्तर पर ही संचालित होती थी। बहुत बाद में जाकर राज्य ने शिक्षा में योगदान और भागीदारी करना शुरू किया।

यदि हम पिछले साठ वर्षों में पुरानी निजी शिक्षा व्यवस्था को देखें तो उसको फिर से दो हिस्सों में बांटा जा सकता है। इसमें से एक अनुदानित संस्थाओं के रूप में चलने वाली व्यवस्था है इसमें यह संभव है कि किसी समाज सेवी संस्था या चेरिटेबिल ट्रस्ट ने कोई विद्यालय स्थापित किया हो लेकिन बाद में उसके संचालन में वित्तीय सहयोग सार्वजनिक वित्तीय प्रणाली या सरकार के माध्यम से उपलब्ध होने

लगा हो। दूसरी तरफ ऐसी शिक्षण संस्थाएं भी रही हैं जिनका प्रबंधन और वित्तीय प्रभार निजी उद्यमियों के हाथों में होता था। उनके लिए किसी भी तरह का वित्तीय सहयोग सरकार से उपलब्ध नहीं होता था। ऐसी संस्थाओं को फिर से दो हिस्सों में बांटा जा सकता है। इनमें से एक तरह की वे शिक्षण संस्थाएं हैं जो शिक्षा को समाज के विकास के लिए आवश्यक समझती थीं और सामाजिक विकास की मनोभावना से संचालित होती थीं जिनमें लाभ कमाने की कोई प्रवृत्ति नहीं थी। इस कार्य के लिए वे अपने स्तर पर संसाधनों की व्यवस्था करते थे और अच्छे विद्यालय चलाने की कोशिश करते थे। दूसरी तरह के वे निजी विद्यालय हैं, और ये पिछले दिनों में बहुत तेजी से फले-फूले हैं, जिनकी मुख्य प्रेरक शक्ति लाभ कमाने से जुड़ी हुई है। लेकिन सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्देश दिए हैं कि शिक्षा को लाभ के उपक्रम के रूप में नहीं देखा जा सकता। अतः यह अपने लाभ को प्रच्छन्न रखते हैं। व्यवहारिक तौर पर सभी अभिभावक, सरकार और समाज के प्रबुद्धजन जानते हैं कि ये विद्यालय निश्चित रूप से लाभ कमाने के लिए चलाए जा रहे हैं। फिर भी इन्हें प्रच्छन्न लाभ कमाने वाली संस्थाओं के तौर पर देखना पड़ेगा।

ऐसी संस्थाएं जो शिक्षा को समाज के विकास के लिए आवश्यक मानकर समाज हित में विद्यालय चलाती रही हैं उनमें भी एक से अधिक प्रकार की संस्थाएं रही हैं। इनमें से कुछ धार्मिक मंतव्यों को लेकर विद्यालय चलाती रही हैं तो कुछ विशुद्ध रूप से सामाजिक विकास की दृष्टि से विद्यालय चलाती रही हैं। यदि इस तरह से देखा जाए तो शिक्षा में सरकारी व्यवस्था मुख्य होने के बावजूद निजी या गैर-सरकारी संस्थाओं और गैर-सरकारी निकायों का शिक्षा में योगदान हमेशा ही रहा है। पिछले वर्षों में शिक्षा के निजीकरण या सार्वजनिक-निजी साझेदारी का जो नारा लगाया जा रहा है वह पुरानी निजी शिक्षा व्यवस्था से थोड़ा भिन्न है। इन दिनों इसके दो मुख्य स्वरूप विचार विमर्श के लिए प्रस्तुत किए जा रहे हैं जिन पर बहस चल रही है, उनमें से एक प्रबंधन या वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराने की दृष्टि से सार्वजनिक और निजी शिक्षा के मिले-जुले स्वरूप की पैरवी कर रहा है। जिसमें यह माना जा रहा है कि किसी न किसी प्रकार सरकार शिक्षा व्यवस्था में शामिल रहेगी। अर्थात् प्रबंधन या वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराने अथवा दोनों स्तरों पर सरकार इसमें शामिल रहेगी। यहां यह माना जा रहा है कि कॉरपोरेट घरानों और बड़े व्यापारिक संस्थानों के पास अच्छे प्रबंधन के जो विशेष अनुभव हैं उनका शिक्षा में उपयोग किया जाए। दूसरे जिस विचार पर बल दिया जा रहा है वह घोषित रूप से लाभ कमाने के लिए शिक्षा संस्थानों के संचालन की छूट से जुड़ा है। जहां मिली-जुली व्यवस्था की बात की जा रही है वहां भी ऐसा नहीं है कि कॉरपोरेट

घराने अपने प्रबंधन की क्षमताओं का उपयोग समाज हित के लिए बिना कुछ लाभ कमाए देने वाले हैं। इस चिन्तन में यह मानकर चला जा रहा है कि लम्बे समय तक किसी काम को चलाए रखने के लिए यह जरूरी है कि उससे किसी न किसी प्रकार का लाभ मिलता रहे जिससे काम करने वालों की रुचि और प्रेरणा उस कार्य में बनी रहे। इसलिए प्रबंधन में दी जा रही सेवाओं का मूल्य सरकारी धन से, जो कि मूलतः समाज या जनता का ही धन है, मिलता रहे। अन्यथा इन संस्थाओं में कोई ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि वे कुछ फीस लेकर अपने लिए धनोपार्जन कर सकें या लाभ कमा सकें। दूसरे स्वरूप में यह माना जा रहा है कि इस तरह के संस्थान पूरी तरह से लाभ के लिए ही संचालित होंगे। इसमें जो नया विचार उभर रहा है वह बाजार की भूमिका से संबंधित है। यदि अभी तक की चर्चा को हम पुरानी निजी शिक्षा व्यवस्था के संदर्भ में देखें तो उसमें बाजार की भूमिका को रेखांकित नहीं किया जाता था। यह भी नहीं माना जाता था कि बाजार में शिक्षा की गुणवत्ता को बढ़ाने की काबिलियत है और वह आखिरी व्यक्ति तक शिक्षा पहुंचा पाने में बहुत बड़ी मदद कर सकता है। यदि यह माना भी जाता था तो यह स्वर बहुत मुखर नहीं था। नई शिक्षा व्यवस्था के बारे में सबसे ज्यादा मुखर स्वर बाजार की ताकतों को शिक्षा में स्वतंत्र रूप से काम करने की आजादी से संबंधित है। निजी शिक्षा व्यवस्था गुणवत्ता में वृद्धि कर सकती है और वह सभी को शिक्षा मुहैया करवाने में सक्षम है, इस लेख में इन दो बिन्दुओं पर ही हम विस्तार से विचार करने की कोशिश करेंगे।

बहुत से लोगों का ऐसा ख्याल है और इसके लिए पुख्ता तर्क भी दिए जाते हैं कि मिली-जुली व्यवस्था होनी चाहिए जिसमें सरकार और कॉरपोरेट घराने मिलकर शिक्षा के वित्तीय और प्रबंधकीय जिम्मेदारियों को वहन करें, यह एक तरह से शिक्षा को पूर्णतः लाभ के लिए मुक्त करने की ओर ही एक कदम है और जब तक शिक्षा को पूरी तरह से लाभ के लिए मुक्त नहीं किया जा सके तब तक सार्वजनिक-निजी साझेदारी के नाम पर निजी उद्यमियों को सरकारी धन मुहैया कराने का ही एक तरीका निकाला जा रहा है। पूर्णतः निजी और लाभ के लिए जिस शिक्षा व्यवस्था की ब्यूह रचना की जा रही है और यह दावा है कि इससे शिक्षा का विकास होगा। इस लेख में, हम इसका विश्लेषण करने की कोशिश करेंगे।

यह विचार इन दिनों प्रचलित है कि लाभ के लिए शिक्षा की व्यवस्था से गरीब निर्धन लोगों और आखिरी बच्चे तक शिक्षा पहुंच सकती है तथा वह उनके लिए बहुत फायदेमंद होगी, इस विचार को लेकर बहुत से शोध अध्ययन किए गए हैं और इसके लिए बहुत से तर्क भी दिए गए हैं। इन विभिन्न प्रकार के तर्कों में दो तर्क मुख्य हैं। एक तो यह कहा जाता है कि जो शिक्षा के उपभोक्ता हैं उनके पास चुनाव का अधिकार रहेगा। अर्थात् यदि एक विद्यालय

अच्छा नहीं है तो बच्चे के माता-पिता पड़ोस के दूसरे विद्यालय में अपने बच्चे को भेज सकेंगे। यहां उपभोक्ता माता-पिता को माना जा रहा है। हालांकि शिक्षा में जिन लोगों ने बाजार के हस्तक्षेप पर विचार किया है उन्हें यह तय करने में काफी मुश्किल होती है कि शिक्षा का असली उपभोक्ता कौन है ? यहां इस पर संक्षेप में विचार करें तो इस पर तीन तरह के मत हैं। एक, शिक्षा का मूल उपभोक्ता बालक है जो वास्तव में शिक्षा प्राप्त करता है। दूसरे, उपभोक्ता बालक के माता-पिता हैं जो उसकी शिक्षा के लिए कुछ हद तक वित्तीय संसाधन मुहैया करवाते हैं और उसके विकास को एक खास दिशा देना चाहते हैं। तीसरे, समाज के एक प्रतिनिधि के रूप में उपभोक्ता राज्य है जो एक खास प्रकार के समाज और राज्य व्यवस्था को चलाना चाहता है और जो यह तय करता है कि उसके नागरिकों में क्या क्षमताएं और मूल्य होने चाहिए। इस पर अपने-अपने मत हो सकते हैं। यह सीधा-सा लगने वाला सवाल कि उपभोक्ता माता-पिता ही हैं, इसकी अपनी जटिलताएं हैं। लेकिन माता-पिता को उपभोक्ता मान लेने वाले विचार के अनुसार कहा जा रहा है कि उनके लिए चुनाव का क्षेत्र खुल जाएगा। इसलिए जो लोग विद्यालय चलाना चाहते हैं वे अपनी गुणवत्ता को माता-पिता की नजर में विकसित करने की कोशिश करेंगे तभी उनके स्कूलों में बच्चे आ पाएंगे, वरना धीरे-धीरे करके वह विद्यालय बन्द होते चले जाएंगे। इसी से जुड़ी हुई दूसरी बात यह कही जाती है कि इससे विद्यालयों में आपस में प्रतिस्पर्धा बढ़ेगी और प्रतिस्पर्धा बढ़ने से वे शिक्षा की बेहतरी के नए-नए तरीके खोजेंगे और इससे शिक्षा में लगातार विकास होगा। इसके पक्ष में और भी तर्क दिए जा सकते हैं लेकिन यह दो मुख्य तर्क इस संदर्भ में दिए जाते हैं। यहां थोड़ा ठहर के हम देखें कि इन दोनों तर्कों का वजन कितना है।

यदि हम बाजार के बारे में विचार करें, और जैसा कि हम ऊपर मान भी चुके हैं, कि हम शिक्षा के उस पक्ष या ढांचे की बात कर रहे हैं जो मूलतः लाभ के लिए खड़ा किया जाएगा। इसका स्पष्ट रूप से मूल मंत्र लाभ ही होगा। इसका मतलब है कि जिस चीज से लाभ कमाया जा सके और जितना अधिक लाभ कमाया जा सके वह चीज उतनी ही बेहतर होगी और बाजार की उसी में रुचि होगी। अर्थात् जिस व्यक्ति के पास अपनी पूंजी होगी वह अपनी पूंजी को वहां लगाना चाहेगा जहां वह अधिक से अधिक लाभ कमा सके। यदि लाभ कमाने के तरीकों को बहुत सरलीकृत रूप में देखना चाहें तो दो तरह से देखा जा सकता है। एक, जो चीज, सेवा या उत्पाद बेचा अथवा बाजार में रखा जा रहा है उसकी लागत कम हो और दूसरी तरफ उसकी लागत की तुलना में अधिकतम कीमत ली जा सके। यदि इस तर्क को हम आगे बढ़ाएं तो यह तर्क स्पष्ट रूप से इस दिशा में जाएगा कि एक बच्चे की शिक्षा पर एक वर्ष में जितनी

लागत होगी उस बच्चे से फीस के रूप में उससे ज्यादा आमदनी होनी चाहिए। अभी तक दुनिया में कहीं भी शिक्षा पर लागत मुख्य रूप से शिक्षक के वेतन और शिक्षक के क्षमतावर्धन के लिए किए जाने वाले प्रयासों पर ही अधिक होती है। यदि शिक्षा में ज्यादा लाभ कमाना हो तो इसका एक सीधा असर शिक्षक की गुणवत्ता पर हो सकता है। इसका मतलब होगा कि जो व्यक्ति कम पैसे में काम कर सकते हैं उन्हें शिक्षक के रूप में भर्ती किया जाए। इससे शिक्षा की गुणवत्ता किस प्रकार प्रभावित हो सकती है इसे इस तरह समझा जा सकता है कि यदि सरकार की ओर से न्यूनतम योग्यता और इसे नियंत्रित करने के नियम नहीं स्थापित किए जाएंगे तो शिक्षक की योग्यता के मानदण्ड सतत रूप से गिरते जाएंगे। साथ ही यदि सरकार की तरफ से इन्हें नियंत्रित किया भी जाएगा तो भी इस व्यवसाय में उन्हीं लोगों को लिया जाएगा जो कि कम से कम वेतन पर काम करने के लिए तैयार होंगे। लाभ के लिए चलने वाले उपक्रमों में यह प्रवृत्ति आम तौर पर देखी जाती है कि मजदूरी का भुगतान कम करना पड़े और शिक्षा में इसके अलावा कटौती करके लाभ कमाने के अवसर कम ही होते हैं।

इसमें एक समस्या यह भी होगी कि शिक्षा पर जो न्यूनतम लागत आएगी भारत की वर्तमान अर्थव्यवस्था में सबसे गरीब व्यक्ति उसका भुगतान करने में असमर्थ होगा। इसका नतीजा होगा कि शिक्षा समाज के सबसे गरीब या अन्तिम व्यक्ति तक तो नहीं ही पहुंच पाएगी। लाभ कमाने का दूसरा तरीका यह होता है कि लागत और कीमत में फर्क तो ज्यादा नहीं रखा जाए लेकिन काम बड़े पैमाने पर किया जाए। किसी भी काम को जब बड़े पैमाने पर करते हैं तो उसके मानकीकरण और एक जैसी बहुत सी इकाईयां बनाने का मसला महत्वपूर्ण हो जाता है। लेकिन शिक्षा का चरित्र कुछ इस तरह का है कि उसमें मानकीकरण और एकरूपता एक हद तक ही काम कर सकती है। उससे आगे बढ़ने पर वह प्रत्येक बालक की अपनी समस्याओं को संबोधित कर पाने में असमर्थ हो जाती है।

थोड़ा ठहर के इस बिन्दु पर भी विचार करने की आवश्यकता है कि बाजार अपनी चीजों या माल या अपने उपक्रम को किस प्रकार से फायदेमंद बनाता है ? इसके लिए हमें तीन-चार चीजों पर ध्यान देने की जरूरत होगी। पहली बात तो यह है कि बाजार लोकप्रिय अपील के आधार पर चलता है। अतः लोगों को जो अच्छा लगे वह परोसा जाए। शिक्षा में भी एकदम यही होने की सम्भावना है कि लोगों को जो अच्छा लगे वही परोसा जाए। दूसरी चीज ब्रॉन्ड बिल्डिंग है जिससे किसी कम्पनी या किसी उत्पाद का नाम इतना चल निकले कि उसे रखना या उसे प्राप्त करना ही अपने आप में एक स्टेटस सिम्बल बन जाता है। फिर उसके बने रहने के लिए मुख्य विषय उसकी गुणवत्ता नहीं रहकर समाज में स्टेटस

सिम्बल देने की उसकी क्षमता हो जाती है। बाजार की तीसरी प्रवृत्ति यह है कि वह फौरी तरीके पर दिखने वाले नए-नए अवसरों को पकड़ने की कोशिश करता है और इसमें किसी गहन चिन्तन के बजाय पहल और उसके ऊपर तुरन्त कोई एक्शन लेने का महत्त्व सर्वाधिक होता है। बाजार की चौथी प्रवृत्ति निश्चित तौर पर गला काट प्रतिस्पर्धा की है। प्रतिस्पर्धा के महत्त्व को स्वीकार भी किया जाता रहा है। शिक्षा में भी यह तर्क जोर-शोर से दिया जा रहा है कि प्रतिस्पर्धा के कारण विद्यालय बेहतर बनेंगे। यदि बाजार की यह प्रवृत्ति है तो हमें यह सोचना पड़ेगा कि शिक्षा में शिक्षण के तरीके, शिक्षाक्रम और स्कूल के सम्पूर्ण माहौल पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा ? स्पष्ट तौर पर यह कहा जा सकता है कि शिक्षाक्रम बाजार की जरूरतों से निर्धारित होगा। बाजार के लिए जिस प्रकार की क्षमताओं और कौशलों की आवश्यकता होगी वे ही शिक्षाक्रम का हिस्सा बनेंगी। जो क्षमताएं और कौशल तुरन्त नौकरी दिलाने में सक्षम हों उन्हें ही शिक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण माना जाएगा। इस प्रभाव के उदाहरण हमारी मौजूदा शिक्षा व्यवस्था में अभी देखे जा सकते हैं। इस वक्त जिन पाठ्यक्रमों और शिक्षण संस्थानों की भारत में सबसे ज्यादा इज्जत की जाती है उनमें बिजनेस मेनेजमेन्ट के पाठ्यक्रम और आईआईएम विशेष रूप से हैं। इज्जतदार संस्थाओं में आईआईटी भी है लेकिन वह इससे थोड़ा भिन्न है। आईआईएम की मुख्य चीज अधिकतम पैसा कमाने की क्षमता से जुड़ी है। इसी प्रकार के और बहुत-से शिक्षण संस्थान या ट्यूटोरियल सेन्टर हैं जो येनकेन प्रकारेण सफलता और अधिकतम पैसे कमाने वाले व्यवसायों की तैयारी में जुटे हुए हैं। इस प्रकार की व्यवस्थाएं एक ऐसे अदूरदर्शी (मायोपिक) शिक्षाक्रम की तरफ ले जाएंगी जो शिक्षा के व्यापक सामाजिक आधारों, शिक्षा में चिन्तन की भूमिका और संवेदनात्मक पहलुओं से उसे दूर ले जाएगा। दूसरी महत्त्वपूर्ण प्रभाव बाजार के माहौल को शिक्षा पर हावी होने देने से जुड़ा है। वहां व्यक्ति की कीमत आंकने के तरीकों में एकदम बदलाव की सम्भावना है। अर्थात् बाजार में वह व्यक्ति सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होगा जो अधिक से अधिक धन कमा सके और अधिक से अधिक धन खर्च कर सके। पिछले पन्द्रह सालों में हमारे देश में मूल्यों का परिवर्तन बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई देता है जिसमें गलत प्रकार से व्यवसाय चलाने, कानून तोड़कर और धोखाधड़ी से व्यापार करके भी जिन लोगों ने अत्यधिक धन जमा किया है उनको एक मार्ग दृष्टा और हीरो के रूप में स्थापित होने की घटनाएं देखी जा सकती हैं। भारत का एक बहुत बड़ा व्यवसाय साम्राज्य इस बात का स्पष्ट उदाहरण है। बाजार आधारित खुली व्यवस्था में आदमी की कीमत मापने का तरीका बाजार द्वारा निर्धारित होगा और वह उसकी धन कमाने की क्षमता और धन खर्च करने की ताकत से तय होगा। संक्षेप में यहां जिक्र

करना उचित होगा कि यह इन्सान की मूल धारणा है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में महत्त्वपूर्ण है और वह किसी दूसरे के उपयोग की वस्तु नहीं है या किसी दूसरे के उद्देश्यों में काम आने वाला संसाधन नहीं है। शिक्षा पर बाजार का प्रभाव इस धारणा के एकदम विपरीत असर डालेगा। क्योंकि बाजार में दूसरे व्यक्ति को अपने उद्देश्यों के लिए काम में ले पाना एक बहुत बड़ी क्षमता के रूप में देखा जाता है।

बाजार की ताकतों को किसी भी क्षेत्र में खुला छोड़ने के जो नतीजे हो सकते हैं उनको हम आज के समय में कई क्षेत्रों के उदाहरणों में बहुत स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। एक उदाहरण निजी टेलीविजन चैनलों का है। टेलीविजन के निजी चैनल जिस प्रकार समाचार की परिभाषा को बदल रहे हैं और जिस प्रकार समाचार परोस रहे हैं वे विश्लेषण के लिए एक बहुत अच्छा उदाहरण हो सकता है। यह सभी स्वीकार करते हैं कि किसी भी जागरूक प्रजातांत्रिक देश में लोगों के पास सही सूचना हो और उस सूचना का विवेकसम्मत विश्लेषण उनको प्राप्त हो। क्योंकि यही उनको बताता है कि समाज किस दिशा में जा रहा है। समाज की विभिन्न इकाईयां और विभिन्न संस्थान अपने-अपने काम को कितना बखूबी अंजाम दे रही हैं। इन जानकारियों के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति प्रजातांत्रिक प्रक्रियाओं में भागीदारी को तय करता है। इस दृष्टि से देखने के लिए हम समाचारों की गुणवत्ता के लिए हम तीन-चार मानदण्ड बना सकते हैं। पहला मानदण्ड यह हो सकता है कि समाचार सही हो, प्रामाणिक हो। दूसरा मानदण्ड हो सकता है कि ऐसी ही चीजें समाचार बनें जो सामाजिक हित से जुड़ी हुई हों और जिनका व्यापक सामाजिक हित पर प्रभाव होने की सम्भावना हो या समाज के लिए जो महत्त्वपूर्ण मुद्दे हों। हर छोटी-मोटी बात या हर प्रकार की बात समाचार नहीं है। तीसरा मानदण्ड होगा कि उसका विवेकसम्मत विश्लेषण श्रोताओं को मिले जो यह बताए कि समाज की परिस्थितियां कैसी हैं और इन परिस्थितियों में किस प्रकार की घटनाएं किन कारणों से घटित हो रही हैं। यदि इन तीनों मानदण्डों पर यह देखने की कोशिश करें कि आजकल हमारे देश में निजी चैनलों पर जिस प्रकार के समाचार परोसे जाते हैं वे कहां ठहरते हैं ? यदि इन मानदण्डों पर रखकर समाचारों को देखें तो हम पाएंगे कि न तो वे आधिकारिक सूचनाएं दे रहे हैं और न ही वे व्यापक समाज की छवि निर्माण में मदद करते हैं और न ही उनका समाज के निर्माण में व्यापक महत्त्वपूर्ण योगदान हो सकता है। समाचारों का विश्लेषण तो एकदम सिरे से ही गायब होता है। इससे उलट ज्यादातर ये समाचार अन्धविश्वासों को बढ़ावा देने वाले या अच्छी भली खबरों को भी हिंसा और यौन के आस-पास घुमाने वाले धारावाहिक के रूप में तब्दील करने की मानसिकता से संचालित

होते हैं। यह जाना-माना तथ्य है कि जिन चैनल्स की टीआरपी सबसे ऊंची होती है वे एक खबर को जो कि मुश्किल से 10 सैकण्ड में दी जा सकती है उसे भी दर्शकों को आधा घण्टा तक दिखाते रहते हैं और बार-बार एक ही बात की पुनरावृत्ति करते रहते हैं। यदि यह माना जाए कि दर्शकों के पास अपने चुनाव की क्षमता है और अपने चुनाव की क्षमता के आधार पर वे चैनल बदल सकते हैं जो कि स्कूल बदलने से कहीं ज्यादा आसान है, तो इस प्रकार के चैनल बन्द हो जाने चाहिए थे। लेकिन इस प्रकार की घटिया सूचना देने वाले, आधिकारिक रूप से अप्रमाणित सूचनाएं देने वाले और फौरी विश्लेषण करने वाले चैनल ही आज सबसे ज्यादा उपलब्ध हैं।

हमें इसकी तह में जाना पड़ेगा कि ये समाचार चैनल ऐसा कैसे कर पाते हैं ? ये चैनल आम आदमी की चिन्तन क्षमता पर प्रहार करके, उसकी सबसे निचले स्तर की मूल प्रवृत्तियों को अपील करने वाले कार्यक्रम देते हैं। अन्य चीजों को छोड़कर लोगों को धारावाहिक का आनन्द लेने के लिए आमंत्रित करते हैं। यहां लोगों के पास चुनाव की स्वतंत्रता तो है लेकिन उनकी चुनाव करने की क्षमता को इस कदर बर्बाद कर दिया जाता है कि वह मानसिक पंगुता के स्तर पर पहुंचा दी जाती है। हू-ब-हू यही स्थिति समाज में स्कूलों के संदर्भ में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। इस तथ्य की पड़ताल दिलचस्प होगी कि हमारे समाज में किस प्रकार के स्कूल अधिक चलते हैं ? शिक्षा में निजीकरण के प्रबल समर्थक प्रो. टूली अपने लेख में शिक्षा में चुनाव के जिन आधारों की बात करते हैं उनमें से एक है स्कूल में अंग्रेजी पढ़ाई जाती है या नहीं। ये ऐसे माता-पिताओं के चुनाव के आधार की बात कर रहे हैं जो या तो केवल साक्षर हैं या अर्ध साक्षर हैं और जिनको स्वयं अंग्रेजी बहुत अच्छी नहीं आती। ये माता-पिता अंग्रेजी भाषा शिक्षण की गुणवत्ता को तो बिल्कुल ही नहीं समझ सकते। ऐसे स्कूलों ने अपने यहां कुछ ऐसे मानदण्ड विकसित कर लिए हैं जिसके आधार पर माता-पिताओं को भ्रमित किया जा सके कि उनके स्कूलों में अंग्रेजी पढ़ाई जा रही है।

चुनाव की स्वतंत्रता और बाजार की ताकतों के आधार पर गुणवत्ता बढ़ने का दूसरा उदाहरण हम बड़ी-बड़ी फूड चैन्स, मैक्डोनाल्ड्स या पिजा हट आदि, का ले सकते हैं। इनकी लोकप्रियता और आकर्षित करने की क्षमता पर इसलिए अंगुली नहीं उठाई जा सकती क्योंकि हम सभी जानते हैं कि आजकल युवा वर्ग इनके प्रति बहुत आशक्त है। लेकिन यदि आप यह मानकर चल रहे हैं कि वहां खाने की गुणवत्ता और स्वास्थ्यवर्धकता के आधार पर भोजन के मानक तय हो रहे हैं तो यह बड़ी भ्रान्ति होगी। क्योंकि इनमें मिलने वाला अधिकतर खाना जंक फूड होता है और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक भी होता है। इनके खाने के स्वास्थ्य पर

पड़ने वाले दुष्प्रभावों पर बहुत से अध्ययन भी हुए हैं। इसके बावजूद सिर्फ हमारी जीभ को पसंद आने वाले स्वाद, स्टेटस सिम्बल और इन जगहों का खास तरह का माहौल युवा वर्ग को आकर्षित करता है और इनका सारा कारोबार इन्हीं के बल पर चलता है। कहने का आशय यह है कि बाजार में अधिकतर वे ही चीजें सफल होती हैं जिनमें किसी सेवा या उत्पाद की गुणवत्ता के मूल मुद्दों से हटाकर उनकी गुणवत्ता को स्थापित करने के कोई दूसरे मापदण्ड पहले स्थापित किए जाते हैं। इन्हें स्थापित करने के मानदण्ड लोगों की सोचने-समझने की शक्ति पर आधारित न होकर तात्कालिक आकर्षण पर आधारित होते हैं। जहां पर प्रतिस्पर्धा और लाभ कमाना ही सर्वोच्च नीति निर्धारक तत्व होते हैं वहां इस दिशा में जाना स्वाभाविक और तार्किक लगता है। अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि शिक्षा को भी बाजार के हाथों में छोड़ दिया जाएगा तो उसकी भी स्वभाविक परिणति इस दिशा में होगी। इसके कुछ उदाहरण आजकल स्कूलों के प्रचार में भी देखे जा सकते हैं। आजकल शहर में शिक्षण संस्थानों के विज्ञापन इस कदर छाए रहते हैं जैसे कि वे भी बाजार का कोई उत्पाद बेचने के लिए बने हों। बहुत से स्कूल अपने यहां दी जाने वाली सुविधाओं को इस प्रकार प्रचारित करते हैं जैसे कि शिक्षा की गुणवत्ता सिर्फ उन्हीं चीजों से निर्धारित होती हो।

बाजार की इन प्रवृत्तियों का शिक्षा के साथ संबंध देखने की जरूरत है। इससे अभी तक कहीं बातें और स्पष्ट हो जाएंगी। शिक्षा का एक प्रजातांत्रिक राष्ट्र में महत्त्व क्या है ? प्रजातंत्र अपने नागरिकों की जागरूकता और उनके विवेकसम्मत निर्णय लेने की क्षमता के आधार पर चलता है। इस विचार की बहुत बार पुनरावृत्ति की जाती है एवं शिक्षा में काम करने वाले सभी लोग इसे बखूबी मानते हैं और बाजार को शिक्षा में खुली छूट देने की पैरवी करने वालों को यह समझना जरूरी है। इसके लिए यह आवश्यक है कि लोगों की सूचना प्राप्त करने की क्षमता बढ़े। लोगों की दूसरे लोगों के प्रति संवेदनाएं बढ़ें और सामाजिक सरोकार मजबूत हों। नागरिकों की विश्लेषण करने की क्षमताएं उत्पन्न हों। तभी वे उचित नीतियों के पक्ष में अपने विचार दे पाएंगे। तभी वे प्रजातांत्रिक बहसों में हिस्सा ले पाएंगे और अपने चुने हुए जनप्रतिनिधियों के क्रियाकलापों का सही आंकलन कर पाएंगे। यही प्रजातंत्र को सही दिशा में बनाए रखने में सहायक होगा। यदि ये तीनों चीजें नहीं होंगी तो प्रजातंत्र बहुत अच्छी तरह से काम नहीं कर पाएगा। प्रजातंत्र का जो दूसरा मूल मंत्र है, यह पहले भी कहा जा चुका है कि, प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। उसकी कीमत किसी और के काम में या किसी और चीज में योगदान देने के आधार पर नहीं आंकी जा सकती। हर एक व्यक्ति का यह जन्मसिद्ध अधिकार होता है कि वह

स्वतंत्रतापूर्वक अच्छी जिन्दगी लिए। उसके इस अधिकार को उसके किसी अन्य चीज में योगदान के आधार पर कम या अधिक नहीं किया जा सकता।

यह सिद्धान्त मूलतः आपसी सहयोग की तरफ इशारा करते हैं और प्रतिस्पर्धा पर जितना अधिक बल दिया जाएगा प्रजातंत्र के लिए आवश्यक मूल्यों, परस्पर सहयोग और संवेदना के उतना ही घटने की संभावना है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि बाजार मूलतः विश्लेषण की शक्ति को कुंद करके ही चलता है और अधिक पैसा भी उन्हीं चीजों में कमाया जा सकता है जिसमें विश्लेषण की शक्ति को कुंद किया जा सके।

अतः बाजार की मूल प्रवृत्ति शिक्षा के मूल सरोकारों के विपरीत दिशा में काम करती है। यह पहले मुद्दे पर बात हुई जहां हम यह कह रहे हैं कि निजी संस्थानों को लाभ के लिए स्कूल चलाने की खुली छूट दी जाए और इससे समस्याओं का हल निकालने में मदद मिलेगी। उपरोक्त विश्लेषण से ऐसा लगता है कि शिक्षा में बाजार को खुली छूट देने से वह समस्याओं को तो हल करने में सक्षम नहीं हो पाएगा। लेकिन निश्चित रूप से शिक्षा में बहु-स्तरीय व्यवस्था कायम करके, एक से अधिक स्तर बना के, समाज के प्रजातांत्रिक ताने-बाने को छिन्न-भिन्न करने की सामर्थ्य जरूर प्राप्त कर लेगा।

इस लेख में हम दूसरी बात करना चाह रहे हैं वह प्रबंधन में साझेदारी की है। अभी तक प्रबंधन में साझेदारी के जितने भी स्वरूप अलग-अलग दस्तावेजों में प्रस्तावित किए गए हैं उनमें से अधिकतर इस प्रकृति के हैं जिनसे शिक्षा के बाजार का विस्तार किया जा सके और सार्वजनिक धन को प्रबंधन के नाम पर या प्रबंधन शुल्क के नाम पर कॉरपोरेट घरानों या निजी उद्यमियों को उपलब्ध करवाया जा सके। इसे हम सार्वजनिक धन को सीधे-सीधे निजी हाथों में सौंपने जैसा ही मानते हैं। इन स्थितियों को देखते हुए हमें दो चीजों पर विचार करने की जरूरत लगती है। पहली तो यह कि किसी भी प्रजातांत्रिक व्यवस्था की यह जिम्मेदारी है कि उसके नागरिक प्रबुद्ध नागरिक बनें और जिस प्रकार की क्षमताओं को एक अच्छे प्रजातांत्रिक नागरिक के लिए चिन्हित किया गया है वे क्षमताएं शिक्षा से ही विकसित की जा सकती हैं। इसलिए सभी लोगों को एक निश्चित स्तर तक की गुणवत्तापूर्ण शिक्षा उपलब्ध करवाना सरकार की जिम्मेदारी है। कोई भी प्रजातांत्रिक सरकार किसी भी प्रकार की साझेदारी के नाम पर कॉरपोरेट जगत या बाजार को शिक्षा उपलब्ध कराने की छूट नहीं दे सकती और अपनी सैधानिक जिम्मेदारी से विमुख नहीं हो सकती। दूसरे इन दिनों यह विचार बहुत जोर पकड़ रहा है कि बड़े व्यापारिक संस्थान और कॉरपोरेट घराने अपने व्यापारिक उपक्रम को बहुत व्यवस्थित ढंग से, बहुत

अच्छे प्रबंधन के साथ चलाते हैं इसलिए उनके प्रबंधन की बेहतर क्षमताओं का शिक्षा में भी उपयोग किया जा सकता है और इनकी क्षमताओं का इस्तेमाल शैक्षिक विकास के लिए भी किया जा सकता है। इस तर्क में कुछ हद तक सच्चाई हो सकती है लेकिन इस सच्चाई का अंश इतना छोटा है कि यह शिक्षा की गुणवत्ता या शिक्षा के फैलाव, दोनों में ही, बहुत ज्यादा मदद नहीं कर सकता। यदि हम इसका उचित विश्लेषण करें तो पाएंगे कि शिक्षा में प्रबंधन महत्वपूर्ण तो है लेकिन उससे अधिक महत्वपूर्ण पहलू सामाजिक सरोकार, शैक्षिक प्रक्रियाओं की समझ और समाज के लिए शिक्षा की जरूरतों को समझना है। यदि शिक्षा को हम केवल बाजार के लिए उपयुक्त किस्म के कार्मिक बनाने के नजरिए से देखते हैं और यदि शिक्षा में प्रबंधन के नजरिए से बड़ी संख्या में जैसे व्यक्ति बना भी लिए जाते हैं तो इसे कम से कम शैक्षिक उन्नति तो नहीं ही माना जाएगा। क्योंकि समाज बाजार से बहुत बड़ा है और समाज को सुचारू रूप से चलाए रखने के लिए बहुत से आयाम हैं जिनके लिए शिक्षा को उचित कार्मिकों के बनाने से कहीं ज्यादा काम करना पड़ेगा। उन आयामों से शून्य व्यक्ति को एक सुशिक्षित व्यक्ति नहीं कहा जा सकेगा।

वर्तमान समय में बाजार द्वारा शिक्षा के लिए उत्पन्न किए जा रहे संकटों से बचाने का एक ही रास्ता है कि समाज के साधनहीन या वंचित वर्ग के सदस्यों के लिए सरकारी शिक्षा व्यवस्था बहुत ही सशक्त और मजबूत होनी चाहिए। वह शिक्षा व्यवस्था गुणात्मकता के स्तर पर एक आवश्यक स्तर से ऊपर होनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि एक प्रजातांत्रिक राष्ट्र में निजी प्रयत्नों को पूरी तरह से न तो नकारा जा सकता है न तो रोका जा सकता है क्योंकि ऐसा करने का मतलब लोगों द्वारा अपने लिए बेहतर जिन्दगी तलाश करने की स्वतंत्रता पर अंकुश लगाना होगा। लेकिन साथ ही यह देखना भी जरूरी होगा कि इस तरह के अवसरों की छूट से किसी प्रकार का सामाजिक विभेद पैदा न हो। अतः इस प्रकार की शिक्षा व्यवस्था को सामाजिक न्याय, समता और स्वतंत्रता के सिद्धान्तों के आधार पर नियंत्रित किए जाने की जरूरत पड़ेगी।

सबसे बेहतर विकल्प यह होगा कि देश के सभी बच्चों के लिए उपयुक्त गुणवत्ता वाले 'समान स्कूल' हों। समान स्कूल से आशय उनमें उपलब्ध संसाधन और उनमें दी जाने वाली शिक्षा की गुणवत्ता की समानता से है। अर्थात् किसी भी तरह की संस्थाओं द्वारा संचालित स्कूलों में शिक्षा की गुणवत्ता में बड़ा भेद न हो। यदि इस प्रकार एक मजबूत सार्वजनिक शिक्षा तंत्र होगा तो उसमें निजी संस्थाएं और निजी प्रयत्न भी मददगार साबित हो सकते हैं लेकिन एक मजबूत सार्वजनिक शिक्षा तंत्र के अभाव में निजी प्रयत्न और निजी संस्थाएं पूरी शिक्षा व्यवस्था और सामाजिक ताने-बाने को बहुत बड़ा नुकसान पहुंचा सकती हैं। ♦